62 - No. 1

❋ ओ३म् तत्सत् ❋

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ६ Year 6

अंक १ Number 1

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

वार्षिक मूल्य ३। 62. No 1. एक अंक १)

प्रकाशक — श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादक की बात		२
३—ब्रह्म ज्ञान	समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़	३
४—मनोनिग्रह	श्री रामचन्द्र जी अध्यक्ष	७
५—ध्यान का स्वरूप	ईश्वर सहाय	११
६—माया नगरी और सन्त नगरी	ले० काशीराम अग्रवाल	२०
७—वैराग्य	कु० पुष्पारानी सक्सेना	२६
8. God and Gods.	Shri Ram Chandra ji, President	33
9. Mind and Meditation	Shri Ishwar Sahai	37
10. As I See It	Shri Raghavendra Rao	40
11. Sahaj Marga—A Scientific Religion.	Shri S. C. Srivastava	43
12. Abhyasi's Experience		52
13. Talsks on Efficacy of Rajayoga	Dr. K. C. Varadachari	56

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

Teachings of Sahaj Marga.

1. Have firm faith in God — The One Absolute —, and live in Him.
2. The two phases of life, the worldly and the Divine must go side by side, in conjunction with each other and must be attended to without least neglect of either.
3. Take everything in the sense of duty and attend to it faithfully without any feeling of attraction or repulsion.
4. Love all beings with a spirit of service and sacrifice.
5. Give every one his fair dues, treating him as your own.
6. Treat elders with respect and youngers with affection abiding by the general rules of ettiquette.
7. Meet adversity with resignation, banishing from the heart, feelings of anger and vengence.
8. Follow tolerance and moderation in all activities of life.
9. Aim at the highest, putting in honest and and sincere efforts for its achievement.

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठोजागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ६] शाकाब्द १८८४, सं० २०१६ विक्रमी [Year 6
अङ्क १] Year 1962 [No. 1

प्रार्थना

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

O, Master, Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
Thou art the only God and Power
to take me upto that stage.

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादक की बात :—

प्रस्तुत अङ्क के साथ सहज मार्ग पत्रिका अपने प्रकाशन के छठे वर्ष में प्रवेश कर रही है। इसकी अनवरत उन्नति के लिए परमात्मा से निरन्तर प्रार्थना है। हम उन सभी सज्जनों के अत्यधिक आभारी हैं जिन्होंने इसको अपनाकर इसमें सहायता प्रदान की और इस पत्रिका को अपने उच्च विचारों से सुशोभित किया है।

परन्तु हमें इस बात का दुःख है कि छपाई की कुछ कठिनाइयों के कारणवश पत्रिका ठीक समय पर ग्राहकों के पास न पहुँच सकी, आशा है कि यह कठिनाई शीघ्र ही दूर हो जावेगी।

हमारे पूज्य प्रधानाचार्य की अंग्रेज़ी पुस्तक "Reality at Dawn" का अनुवाद कनैड़ी भाषा में जो श्री एस० ए० सरनाड़ M. A. B. Ed. धारवार ने किया था वह अब छपकर तैयार हो चुकी है, ब्रह्मविद्या के इच्छुक लाभ उठा सकते हैं।

पत्रिका के सहृदय पाठकों से प्रार्थना है कि जिनका छठे वर्ष का चन्दा अभी बाकी है वह कृपया शीघ्र भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक

ब्रह्म—ज्ञान

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

[गताँक से आगे]

अब ज्ञान और मुक्ति का अन्तर मालूम करना चाहिये।

(१) ज्ञान जानने का नाम है और ऐसे जानने का कि जानते हुए भी जानी हुई वस्तु से ऐसा मिल जाय कि जानना ही जानना रह जाए, जिसे तदाकार होने का एक रूप कहा जा सकता है।

(२) मुक्ति छुटकारा पाने को कहते हैं। सीमा बन्धन या प्रतिबन्ध की स्थिति से छुटकारा पाना ही मुक्ति है।

यह दोनों हालतें दिल या मन से सम्बद्ध हैं। मन ही अनुभव करता है, मन ही बन्धन और छुटकारे को मानता और महसूस करता है। यह जानना और महसूस करना ज्ञान ही है। जब दिल अपने आपको जाहिल मानकर इल्म या ज्ञान के शौक में कोशिश करता हुआ जानने पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है और जान जाता है तो उसको ज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार दिल किसी हालत को असुखकर मानकर उससे परेशान होता है तो वह कैद या बन्धन है; और जब उससे छुटकारे की फिक्र में प्रयत्न करता हुआ उस पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तो इस हालत का नाम मुक्ति है। अतः जैसे ज्ञान और अज्ञान मन या दिल की

हालतों के नाम हैं वैसे ही बन्धन और मुक्ति भी। बन्धन और मुक्ति दोनों काल्पनिक और विचार रूप मन की मानी हुई बातें हैं। इस प्रकार जब:—

(१) इसका गहरा सम्बन्ध और भाव शरीर से होता है तो यह मूढ़ बना रहता है,

(२) शरीर और अपने खास सम्बन्ध में कर्मरूप होकर यह अज्ञानी और चञ्चल हो जाता है,

(३) और दुनियावी, शारीरिक और पार्थिव कारबार के सिलसिले में बुद्धि और विवेक से काम लेता हुआ साँसारिक बुद्धिमान होता है। सबकी समझ रखता हुआ, अपनी खास समझ से रिक्त होने के कारण यह अज्ञानी कहलाता है।

(४) और फिर जब अनुभव की व्यापकता द्वारा यह पार्थिव बन्धनों को ढीला करके आत्मा से सम्बन्ध पैदा करने लगता है, और दीन-दुनियां, लोक परलोक, पार्थिव तथा अपार्थिव विचारों के तुलावे मिलाने लगता है, तब यह ज्ञानी कहलाता है, और दोनों में एक सा व्यवहार करता हुआ किसी के गहरे असर को अपने पर नियन्त्रण प्राप्त करने नहीं देता, और तराजू के पल्ले को बराबर रखता है।

जिसने दिल को समझ लिया उसने आत्मा को, और सब कुछ समझ लिया।

उन्नति जब होगी खयाली ही होगी, और दिल से ही उसका सम्बन्ध होगा। जो वस्तु कि सोचने-समझने, जानने-मानने

और विश्वास करने के योग्य है वह सब मन के ही विषय में है। कौन सा ऐसा क्षेत्र है जो इस दिल की सैरगाह नहीं। इस मन के असंख्य घाट, क्षेत्रीय विभाग और काम करने के स्थान और मुकाम हैं। उसमें से इस वक्त केवल मुख्य तीन घाटों के विषय में कहा जाता है। यह घाट दिल की किताब के तीन बाब (अध्याय) भी हैं। फ़ारसी में बाब (अध्याय) दरवाजा को भी कहते हैं, और यही घाट का भी अर्थ है। मन की पुस्तक के तीन विभिन्न अध्याय (बाब) हैं— (१) सिफ़ली अर्थात् निचला या शारीरिक अर्थात् स्थूल-शरीर, (२) वस्ती अर्थात् दरम्यानी या बिचला या दिली या सूक्ष्म-शरीर, और (३) उलवी अर्थात् ऊंचा या आत्मिक अर्थात् कारण-शरीर।

स्थूल शरीर पदार्थ का वह क्षेत्रीय विभाग है जहाँ जल्दी २ परिवर्तन होते रहते हैं। सूक्ष्म शरीर पदार्थ का वह क्षेत्रीय विभाग है जिसमें परिवर्तन के साथ स्थिरता भी है। आत्मा या कारण शरीर पदार्थ का वह क्षेत्रीय विभाग है जिसमें अपेक्षतः अधिक स्थिरता और शान्ति की हालत है, और यही मन के घाट हैं।

जब मन बिलकुल स्थूल शरीर पर बैठता है तो उसे अपेक्षतः अधिक अनुभव होता है, क्योंकि उसको विशेषतः अनेकता के संसार में श्रेष्ठतर और उच्चतर सामान का सामना करते रहने से दुख ही दुख का भान होता रहता है, और ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता और दूसरों की अपने से श्रेष्ट हालत में जाने और उन्नति करने की भावना को उभार का सामान मिलता रहता है। जब मन स्वयं अपने क्षेत्रीय विभाग या स्थान पर बैठता है तो उसमें चिन्तन

ध्यान, सोच-विचार, निष्कर्ष निकालने, निर्णय करने और फिर उस निष्कर्ष पर स्थिर होने का मौका हाथ आता है।

शास्त्रकारों ने इसकी चार सूरतें क़ायम की हैं— (१) चित्त (दिल पर विचार का झटका लगना), (२) मन (चिन्तन करना), (३) बुद्धि (निर्णय करना), (४) अहंकार निर्णय पर स्थिर होना, यह दिल का अपना बीच का क्षेत्रीय विभाग है जिसमें दुख और सुख दोनों की मिली जुली अवस्था है।

और जब यह मन इन दोनों क्षेत्रीय विभागों से चढ़कर आत्मा अर्थात् कारण शरीर के घाट पर चढ़ता है तो उसको शान्ति, स्थिरता और निश्चिन्तता का सुख प्राप्त होता है। यह मन के तीन भाग हैं।

इस मन की पाँच हालतें हुआ करती हैं— (१) मूढ़, (२) चञ्चल, (३) अज्ञानी, (४) ज्ञानी, (५) शान्त या सुखी।

इसी तुम्हारे शरीर के अन्दर जो निचला विभाग इस बैठक का होता है वह हलक़ (गला) से शुरू होकर नीचे और ऊँचे घेरा डाले हुये रहता है। चञ्चल मन का क्षेत्रीय विभाग हृदय चक्र में विशेष रूप से होता है। अज्ञानी का क्षेत्रीय विभाग हृदय, गले और आँखों तक अर्थात् सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों तक है। ज्ञानी का क्षेत्रीय विभाग हृदय, गला और मस्तक तक ही नहीं बल्कि ऊपर से लेकर नीचे तक है और शान्त या सुखी अर्थात् स्थिर का क्षेत्रीय विभाग आँखों से ऊंचे के स्थानों तक है। उसकी दृष्टि नीचे की ओर बिल्कुल नहीं रहती। वह ऊँचे क्षेत्रीय विभागों में जमकर बैठ रहता है। इतना अन्तर है कि इस हालत में वह उच्च अधिष्ठान बना हुआ नीचे के विभागों को बल प्रदान करता रहता है। यह उसके सहारे रहते हैं, वह इनके सहारे नहीं रहता। (क्रमशः)

—०—

मनोनिग्रह

(श्री रामचन्द्र जी अध्यक्ष)
(मूल अंग्रेजी से अनूदित, अनुवादक प्रोफेसर हरिदत्त सिंह अध्यक्ष हिन्दी विभाग युवराजदत्त महाविद्यालय लखीपुर खीरी)

भारतवर्ष आध्यात्मिकता का निवास स्थान है, इसीलिए सभी युगों में यहाँ, आध्यात्मिकता विषय पर विभिन्न प्रकार से चिन्तन होता रहा है। आज वह समय है जब मनुष्य की प्रसुप्त शक्तियाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हो रही हैं। आध्यात्मिकता के आधार पर मनुष्य के पूर्ण जीवन निर्माण में संसार का भी अपना योग है। आज का सर्वाधिक उत्साह वर्धक लक्षण यह है कि सभी लोग शान्ति प्राप्ति का मार्ग खोज रहे हैं। विश्व के कुछ भागों में अत्यधिक सम्पत्ति के होते हुए भी, शान्ति का अभाव है। शान्ति प्राप्त करने के लिए, बाह्य साधनों का, निष्फल प्रयोग, व्यर्थ ही किया जाता है। जब तक हम शान्ति प्राप्ति के लिये, अपनी मानसिक वृत्तियों को, अन्तर्मुखी नहीं बनाते, तब तक उसका कण भी नहीं प्राप्त हो सकता है। शान्ति प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न साधन अपनाये जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वाभावानुकूल ही उनका अनुसरण करता है।

आधुनिक युग में गुरु बहुधा मनोनिग्रह का भार शिष्यों पर ही छोड़ देते हैं। जो वास्तव में अभ्यासी के लिये एक कठिन समस्या बन जाती है और जिसके परिणामस्वरूप वह अपनी कठि-

नाइयों पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। ऐसी परिस्थिति में तो शिक्षक के लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता है। दूसरे शब्दों में शिक्षक के दायित्व एवं कर्तव्य का भार शिष्य पर आ-जाता है।

योग मार्ग आशुफल दाता है, यदि इसके साथ ही साथ अनन्य भक्ति एवं निष्ठा भी हो, क्योंकि भक्ति के द्वारा मनुष्य शीघ्र अपने इष्ट से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। अपने इष्ट का चिन्तन मनुष्य को; चेतना में अधिक गहराई तक पहुँचाने में सहायक होता है। यदि किसी प्रकार, हम ऐसे ब्रह्मनिष्ठ शिक्षक को पा सकें, जो अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा हमें प्रोत्साहित कर सके तो अधिकांश कठिनाइयाँ समाप्त हो जाती हैं और हम शीघ्र ही वास्तविक सत्य की झाँकी का अवलोकन करने लगते हैं। विभिन्न नामाधिकरणों से युक्त, योग की विभिन्न प्रणालियाँ हैं और मैं योग की संशोधित प्रणाली को सहज मार्ग के नाम से प्रस्तुत करता हूँ।

इसमें अभ्यासी को हृदय में दिव्य प्रकाश की कल्पना करके, उस पर ध्यान करने के लिये कहा जाता है। शिक्षक अभ्यासी के अन्तर (System) से मल, विक्षेप तथा आवरण को हटाकर उसकी आन्तरिक सफाई करता है, और इस प्रकार से वह उसके सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में बहुत बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

हम लोग आदि उद्गम् से, इस संसार में अवतरित हुये हैं, और जब हम उस तक पहुँचने की इच्छा करते हैं, तो हमें

विभिन्न ग्रंथियों, तथा चक्रों को पार करते हुये ऊपर की ओर जाना होगा। मैं यहाँ सहज मार्ग की विधियों अथवा प्रविधियों (Technique) के विषय में नहीं लिख रहा हूँ, परन्तु उन व्यक्तियों के लिये कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख कर रहा हूँ, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठने की प्रवृत्ति बना ली है। सहज मार्ग की शिक्षा उस कारण शरीर से प्रारम्भ होती है जहाँ संस्कार बनने आरम्भ होते हैं। हम अभ्यासी के विचारों को नहीं रोकते, वरन् स्नायु मंडल के प्रत्येक केन्द्र तथा चित्त को ही शुद्ध एवं स्वच्छ करते हैं। इस प्रक्रिया में, सर्व प्रथम, हम चित्त के मूल धरातल को ही साफ करते हैं, जहाँ से विचार तरंगें उत्पन्न होती हैं। यदि हम किसी प्रकार इसकी विचार तरंगों को रोकने में असफल हो जाते हैं तो वह वस्तु अथवा पदार्थ, जो इनको उत्पन्न करता है, वैसा का वैसा ही रह जाता है। यह सम्भव है कि इच्छा शक्ति के द्वारा हम विचार तरंगों को रोक सकें परन्तु वह वस्तु जिसने इन विचार तरंगों को उत्पन्न किया है, जैसी की तैसी ही रह जाती है। और यदि उसे हटाया न गया, तो मोक्ष सम्भव नहीं है। हमको स्वाभाविक रूप से बढ़ना है, ताकि विष जड़ से ही समाप्त हो जाये। हमारे साथी भी, ध्यान के समय, विचारों के अचानक आक्रमण अथवा अभियान की शिकायत करते हैं, परन्तु, साथ ही साथ वे यह अनुभव कर प्रसन्न भी होते हैं कि यह विचार साधना में विघ्नकारी नहीं होते हैं। भारतीय शास्त्रों के अनुसार, प्राचीन संस्कारों के चक्करों से मुक्त होने पर ही, हम मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं वर्तमान (मौजूदा) संस्कारों को अभ्यासी स्वयं इतना अधिक अपने वश में (नियंत्रण में) करलेते हैं कि वे

आगे के संस्कारों को बनने ही नहीं देते हैं। वास्तव में यह आध्यात्मिक दशा है जिसे कि हम चेतना में अधिक गहराई तक जानेपर सहज मार्ग में सरलता पूर्वक प्राप्त कर लेते हैं।

मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न किये गये विचार, पिछले संस्कारों के भोग में अत्यधिक सहायक होते हैं। परन्तु लोग इस बात की आशंका अथवा भय प्रगट कर सकते हैं कि यदि वे यौगिक साधनों को अपनायें और संस्कारों का तांता जारी रहे तो वे कदाचित अधिक कठिनाइयों में न पड़ जायें और उन्हें अधिक शारीरिक कष्ट बीमारियाँ तथा दुर्घटनाओं को भोगना न पड़े। उनकी आशंकायें सत्य भी हो सकती हैं, किन्तु यदि ऐसी बातें घटित हुईं, तो उस दशा में, वास्तव में गुरु की उपस्थिति ही व्यर्थ होगी। अभ्यासी स्वयं उनकी सघनता एवं तीव्रता को दूर करने का प्रयत्न करता है, और गुरु की भी शक्ति, अभ्यासी के उन्हें निःशेष करने के प्रयत्नों में, बहुत अधिक सहायक होती है। साधना की यह प्रणाली पाठकों को अपरिचित अवश्य लगेगी परन्तु यह प्राचीन पद्धति है जो कि अभी तक छिपी पड़ी थी। भोग का प्रभाव ऐसा गम्भीर नहीं होता है जैसा कि अभ्यासी सोचते हैं। कितने ही संस्कार, भोग के लिए स्वयं आ जाते हैं। अन्तःकरण के (System) शुद्ध करने का अर्थ ही यह है कि इन सब चीजों को वहां से हटाया जाये। अन्तःकरण की शुद्धता, अभिलषित फल को बहुत ही शीघ्र ला देती है और हम सूक्ष्मतम से मिलने के लिये दिन प्रति दिन सूक्ष्मतर तथा अधिक हलके होते जाते हैं।

——

"ध्यान का स्वरूप"

(ईश्वर सहाय)

सहज मार्ग में अभ्यास की विधि इतनी सीधी सादी तथा सरल है कि वह लोगों के समझ में आसानी से नहीं आती। कारण यह है कि साधारणतयः मनुष्य का मस्तिष्क इतना उलझा हुआ रहता है कि साधारण बात में भी वह अपने विचारों द्वारा उलझने स्वयं पैदा कर लेता है। इसी दिमागी दौड़ धूप ने ईश्वर प्राप्ति की समस्या को इतना जटिल बना दिया कि साधारण विधियों पर दृष्टि ही नहीं जाती और अगर जाती भी है तो वह उनकी समझ से परे रहती है। इसकी जिम्मेदारी अधिकतर उन लोगों पर है जो ईश्वर प्राप्ति का दम भरते हुए जगद्गुरू न होने का दावा करते हैं। उन्हें इस बात से मतलब नहीं कि मुर्दा चाहे स्वर्ग में जाये चाहे नरक में उनको केवल अपने हलवे मांडे से ही काम है। सरल चित्त मनुष्यों को कुछ न कुछ बता देना ज्ञान की बातों पर लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दे डालना और पुस्तकों में लिखे हुये सिद्धाँतों को तोड़ मरोड़ कर सींक का पहाड़ बना देना यही उनका काम है। उधर दूसरी ओर गेरुये रङ्ग के भक्त और फकीरी सिंगार के पुजारी उनकी बातों में फंस कर ऐसे उलझ जाते हैं कि उससे छुटकारा कठिन हो जाता है। वे दर दर भटकते रहते हैं परन्तु उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता है। अलबत्ता कुछ दिनों के लिये दिल बहिलाव और मनोरञ्जन का साधन अवश्य प्राप्त हो जाता है। उनकी समस्यायें सदा ज्यों की त्यों बनी रहती हैं।

हमारे कुछ सत्संगी भाई एक प्रसिद्ध महात्मा के विषय में सुनकर उनसे भेंट करने गये। परिचय मालुम होने पर महात्मा जी को यह मालुम हुआ कि वे लोग सहज मार्ग की विधि के अनुसार राजयोग का अभ्यास करते हैं तो उन्होंने पूछा कि क्या आप लोग योगनियां सिद्ध कर चुके हैं? इस प्रश्न से उन लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और पूछा कि योगनियों से आपका क्या तात्पर्य है परन्तु उन्हों ने केवल इतना कहकर 'कि बिना योगनियां सिद्ध किये हुये योग हो ही नहीं सकता' बात को समाप्त कर दिया। कितने अचम्भे की बात है। इस प्रकार साधारण मनुष्यों को भुलावे में डाला जाता है।

भाई ईश्वर तो अत्यन्त सरल और सीधा सादा है, इसमें कोई उलझनें नहीं हैं, इसलिये उसको प्राप्त करने की विधि भी बिल्कुल सरल एवं सादी होनी चाहिये। वास्तव में उलझनें हम स्वयं ही पैदा कर लेते हैं, और इसी से हमारी कठिनाइयाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि अक्सर सफलता असम्भव हो जाती है। यह मान लेने में किसी को आपत्ति न होगी कि ईश्वर प्राप्ति की सर्वश्रेष्ठ विधि ध्यान ही हो सकता है और ध्यान ही राजयोग का आधार है। इसमें कोई कठिनता एवं उलझनें नहीं हैं। परन्तु इस सरल और सादी चीज को इतना तोड़ मरोड़ कर लोगों के सामने रखा है कि असल मतलब लुप्त हो जाता है। और केवल मस्तिष्क की उछल कूद ही रह जाती है।

सहज मार्ग में हम उस ईश्वर का ध्यान करते हैं जो रंग रूप तथा गुण ज्ञान से परे है। उसकी अत्यन्त सूक्ष्म दशा को हम

ध्यान में लेते हैं। ऐसे ईश्वर के ध्यान के लिये आवश्यक है कि हम अपना भाव भी जहाँ तक हो सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करें। अब चूंकि वह अति सूक्ष्म दशा साधारणतयः मनुष्य के विचार और कल्पना से परे है, इसलिये सुगमता के लिये महात्माओं ने ईश्वरीय गुण पर ध्यान करने को बताया है और यही तरीका हमारे यहाँ भी प्रचलित है। ध्यान के लिये अपनी रुचि के अनुसार कोई भी ईश्वरीय गुण लिया जा सकता है। हमारे यहाँ अधिकतर ईश्वरीय प्रकाश पर ध्यान करने को बताया जाता है, और वह इस ढंग से कि हृदय में वह दिव्य ईश्वरीय प्रकाश विद्यमान है। परन्तु देखने में आया है कि अभ्यासी इन साधारण तरीकों को भी गलत ढंग से करने लग जाते हैं इसका नतीजा यह होता है कि वह इसके लाभ से बंचित रहते हैं। गलती अक्सर यह होती है कि लोग अपने विचार और बुद्धि के अनुसार ईश्वरीय प्रकाश का कल्पित रूप बनाने लगते हैं। प्रकाश का शब्द उनके अन्दर उजाला या चमक का ख्याल पैदा कर देता है। इसलिये वह ईश्वरीय प्रकाश को बिजली की चमक या सूर्य अथवा चन्द्रमा के प्रकाश के समान मान लेते हैं और उसी को हृदय में देखने के प्रयत्न में लग जाते हैं। इस प्रकार से वे कुल समय इसी खींचा तानी में लगा देते हैं और उन्हें हमेशा यह शिकायत रहती है कि ध्यान जमा नहीं।

वास्तव में अगर देखा जावे तो उनका ध्यान जमे कैसे, उन्होंने ध्यान किया कब? वह तो विचारों की खींच तान और मस्तिष्क की दौड़ धूप में फंसे रहे। ध्यान करने का उन्हें अवसर

कब मिला। बस यही गलती है। भाई ध्यान का यह अर्थ नहीं कि जिस बात को हम लेकर बैठे हैं उसका स्थूलरूप हमारी दृष्टि के सामने बराबर बना रहे और हम बराबर उसे देखते रहें। यदि हम इसी कोशिश में लगे रहते हैं तो वह चीज़ हमारे प्रयत्न करने पर निगाह के सामने आती जायेगी परन्तु यह असली नहीं बल्कि बनावटी होगी और हम असलियत से दूर रह कर कल्पनाओं में फंसे रहेंगे। होना यह चाहिये कि ध्यान के समय हम न तो हृदय का, न ईश्वरीय प्रकाश का कोई कल्पित रूप बनावें और न उसे देखने की चेष्टा करें, बल्कि हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का होना मान कर उस ओर विचार की धारा को लगा दें। उसको देखने का प्रयत्न हरगिज़ न करें अगर स्वयं उसकी झलक दिखाई पड़े तो भी कोई हानि नहीं।

दूसरी बात यह है कि जब हम ध्यान में लगते हैं तो बहुधा कुछ देर के बाद उस बात की चेतना नहीं रहती है कि हम ध्यान कर रहे हैं। थोड़ी देर बाद जब यह चेतना आती है तब ऐसा प्रतीत होता है कि इतने समय तक वह ध्यान रिक्त रहे परन्तु यह भूल है। यदि ध्यान हट गया तो उसकी जगह पर दूसरा कोई विचार अवश्य होता, परन्तु सोचने पर दूसरे किसी विचार का होना मालुम नहीं होता। तो इसका मतलब यही हुआ कि हम ध्यान में तो लगे रहे परन्तु ध्यान में लगे रहने की चेतना नहीं रही। वास्तव में ध्यान यही है।

जब हमें यह मालुम हो कि हम ध्यान से हट गये थे तो उचित है कि फिर हम ऊपर बताये हुये ढंग से ध्यान में लग जाँय।

हमारे पूज्य बाबू जी साहब ने इस बात को इस ढंग से कहा है—"याद ऐसी होनी चाहिये कि जो कभी न आवे अर्थात् ईश्वर की याद इस प्रकार से स्वाभाविक बन जावे कि हमें कभी इस बात की चेतना भी न हो कि हम याद में लगे हैं। यही बात ध्यान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ध्यान का वास्तविक रूप यही है कि ध्यान में लगे रहने की चेतना बाकी न रहे।"

प्रायः यह बताया जाता है कि ध्यान मग्न होने के लिये एकाग्र चित्त होना अनिवार्य है। परन्तु यह भूल है और इस प्रकार से सफल होना भी अत्यन्त मुश्किल है। असल में एकाग्रता ध्यान का परिणाम है। ध्यान का अर्थ है चिन्तन जो विचार लेकर हम बैठे हैं उसको लगातार सोचते रहें। अब चूंकि मन अपनी चञ्चलता के कारण देर तक स्थिर नहीं रह सकता है इसलिये आरम्भ में मन अपने स्वभाव के कारण विचलित होता रहता है। चूंकि हम ध्यान का संकल्प करके बैठे हैं इसलिये मन थोड़ी देर बाद फिर उसी लक्ष्य पर आ जाता है और हम ध्यान में फिर लग जाते हैं। धीरे २ यह विचलित होने वाली बाधायें कम होती जाती हैं और ध्यान निर्बाध रूप से चलने लग जाता है। इस प्रकार ध्यान के अभ्यास से मन की एकाग्रता बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि एकाग्रता ध्यान के अभ्यास का परिणाम है। इसलिए ध्यान के अभ्यास के लिये एकाग्र होने का प्रयत्न करना बहुत बड़ी भूल है और इस प्रकार सफलता भी असम्भव हो जाती है। हमारे यहाँ के अभ्यास में इस बात पर जोर नहीं दियाजाता कि अभ्यासी एकाग्रचित्त होने का प्रयत्न करे। बल्कि साधारण ढंग से वह ध्यान

में लग जावें और ध्यान टूटने पर फिर उसी ख्याल में आ जायें। धीरे धीरे एकाग्रता स्वयं उत्पन्न होने लगेगी।

एक शिकायत जो अभ्यासियों को बहुधा रहती है वह यह है कि वे कहते हैं कि हमें कुछ मालूम नहीं होता। जब उनसे पूछा जाता है कि कुछ शान्ति या सकून का अनुभव होता है या नहीं तो बहुधा उत्तर यही होता है कि शान्ति और सकून तो कुछ अवश्य मालूम होता है परन्तु और कुछ मालुम नहीं होता है। अब समझ में नहीं आता कि यह "और कुछ" कौन बला है और वे चाहते क्या हैं? यह तो स्पष्ट ही है कि शान्ति और सकून जो उन्हें प्राप्त होता है उनके लिये उसका अधिक मूल्य नहीं है। जो कुछ वे चाहते हैं शायद उभार, तेजी, चमत्कार या कोई आन्तरिक दृश्य। यदि उनके अभ्यास का यही अभिप्राय है तो उनका अभ्यास करना ही व्यर्थ है उनको किसी ऐसे ही पथ-प्रदर्शक की खोज करना चाहिये जिसके द्वारा उन्हें चमत्कार और आन्तरिक दृश्य देखने को मिलें। हमारा उद्देश्य तो स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना है। इन चीजों में दिल फँसाये रहने पर ध्येय की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। शान्ति और सकून हमारे मार्ग की पहली सीढ़ी है। अगर यह चीज पैदा होने लगती है तो हमारा पग अवश्य उन्नति की ओर है। आन्तरिक दृश्य आदि यह सब मार्ग की चीजें हैं जिनका कोई महत्व नहीं। इसलिये इनमें मन अटकाना बहुत बड़ी भूल है। अभ्यासी को यही उचित है कि वह सत्य मार्ग पर चलता जावे, जो कुछ दिखाई पड़े तथा अनुभव में आवे उनमें न उलझे। केवल मुख्य अभिप्राय पर जमा रहे।

एक अत्यावश्यक बात यह है कि बहुधा अभ्यासियों को यह शिकायत रहती है कि पूजा के समय उनके मन में विचार बहुत उठते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आरम्भ से वे चाहते हैं कि उनका मन बिल्कुल स्थिर अवस्था में आ जाये और जब यह बात प्राप्त नहीं होती तो वे समझते हैं कि अभ्यास बेकार रहा। अब बिचार करने की बात यह है कि हम अभ्यास क्यों करते हैं? मेरे विचारानुसार समस्त साधनाओं, अभ्यासों और पूजा-पाठ का लक्ष्य मन का सुधार ही है और जीवन भर हम इसी में लगे रहते हैं। अब यदि कोई यह आशा करे कि पहले हमारे मन का सुधार हो जाये तब हम अभ्यास करें तो यह बात असम्भव है। दूसरे जब मन का सुधार हो गया तो हमें अभ्यास करने की आवश्यकता ही क्या रही। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह प्रश्न हमारी ही संस्था में उठता है और किसी में नहीं। मेरी समझ में इसका कारण यह है कि अन्य संस्थाओं में अभ्यासी के मन की दशा की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। वहाँ तो यह है कि मन की दशा चाहे कुछ भी रहे और साधक चाहे कुछ भी भलाई बुराई सोचता या करता रहे परन्तु वह संस्था का सदस्य बना रहे। यदि मन के सुधार की बात किसी प्रकार से वहाँ उठी भी तो इसका कुल भार अभ्यासी के ऊपर ही लाद दिया गया। अब साधक क्या कह सकता है? यदि इसकी शिकायत करता है तो गलती उसी की ठहराई जाती है। इसलिय चुप ही रहना पड़ता है। वास्तव में यदि साधक स्वयं ही मन को सुधार लेने के योग्य होता तो उसे पथ प्रदर्शक की आवश्यकता ही क्या थी? हमारे यहाँ मन का सुधार ही

प्रथम आवश्यक चीज मानी गयी है। इसके विना कोई उन्नति हो ही नहीं सकती और इसी पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिये अभ्यास भी बताये जाते हैं और गुरू भी प्राणाहुति द्वारा साधक की इस काम में सहायता करता रहता है। यदि अभ्यासी का ध्यान इस ओर नहीं है तो हमारे यहाँ उसके लिये कोई स्थान नहीं है। बहुधा लोग मन के सुधार के अर्थ यह लेते हैं कि उसको दबा कर या कुचल कर उसकी गति को रोक दिया जावे, जिससे नशे की सी हालत छा जावे। साधना का यदि यही अभिप्राय है तो उससे अध्यात्मिक उन्नति असम्भव है। हमारे यहाँ जो लोग मन न लगने की शिकायत करते हैं उससे उनका भी अभिप्राय यही है। लोग यही बेहोशी की दशा चाहते हैं और इसी में उन्हें प्रसन्नता होती है। इसीलिये जब यह चीज उन्हें प्राप्त न हो सकी तो उन्हें शिकायत रहती है कि मन नहीं लगा। जरा विचार कीजिये कि क्या मन का सुधार इतनी आसान चीज है कि चुटकी बजाते ही हो जावे। जैसे बटन दबाते ही बिजली का प्रकाश हो जाता है। यदि ऐसी ही आसान चीज होती तो लोग अपना समस्त जीवन इसमें क्यों लगा देते। परन्तु हाँ हमारे पूज्य गुरू महाराज जैसे महान व्यक्ति के लिय यह बात असम्भव भी नहीं लेकिन इसके लिय तैयार होकर कोई योग्य पुरुष सामने तो आये फ़िर देखे कि पलक मारते ही क्या से क्या हो जाता है।

खैर मेरा मतलब केवल यह है कि चाहे जो भी पूजा, पाठ, साधना या अभ्यास किया जाये, सबका अभिप्राय केवल मन का सुधार ही है और इसी को प्राप्त करने के लिये हमारी

तमाम कोशिश है। यही बात यदि हम पहले ही दिन से आशा करें तो यह कैसे संभव हो सकती है। सारांश यह कि हमें ध्यान के अभ्यास में लगे रहना चाहिये हमारा मन चाहे लगे या न लगे। अभ्यास हमें अपना कर्तव्य मान कर करना चाहिये। और विघ्न बाधाओं से निराश न होना चाहिये।

एक और बात जो अभ्यास के समय दुखःदायी मालूम होती है वह विचारों का उठना है परन्तु इसमें थोड़ा सा समझ का हेर फेर है। बात यह है कि हमारे मन का स्वभाव हर समय विचार बनाना बन चुका है परन्तु साधारणतयः हमें इसका पता नहीं चलता क्योंक इसके साथ हम भी उसी प्रवाह में बहने लग जाते हैं। अब अभ्यास के समय हमारा संकल्प अन्य विचारों से अलग रह कर केवल ईश्वरीय विचार में लगे रहना होता है। हमारा मन जिसका चंचल स्वभाव बन चुका है खाली स्थान पाकर अपने काम में और भी तेज हो जाता है। इसीलिये विचारों का तांता उस समय और भी अधिक हो जाता है। यदि इनको दबाने की कोशिश की जावे तो उनका वेग और भी अधिक हो जाता है और अभ्यासी का कुल समय इसी खींचातानी में बीत जाता है और ध्यान नहीं होने पाता केवल पहलवानी ही रह जाती है। इसलिये उचित यही है कि इस खींचातानी में न फँस कर अभ्यास में लगे रहें और विचारों को बिना बुलाये मेहमानों की तरह मान कर उनकी ओर कुछ ध्यान न दें। जब चाहें आवें और जब चाहें चले जावें। हमारे पूज्य बाबू जी साहब ने बतलाया है कि जैसे हाथी चलता जाता है और कुत्ते भौंका करते हैं, इन विचारों को कुत्तों का भौंकना मान कर उनकी ओर ध्यान न दें, ध्यान का उचित तरीका यही है।

माया नगरी और संत नगरी

(ले० काशीराम अग्रवाल)

उखड़े हुए कदम, निराश, बेचैन एक युवक बहुत सी समस्याओं में उलझा हुआ सोच रहा था। मुझे कहाँ जाना है, कौन सा रास्ता पकड़ूं, चौराहे ही चौराहे हैं, पूछने पर भी लोग एक मत नहीं हैं। कोई इस रास्ते से जाने को बतलाता है, कोई उस रास्ते से जाने को कहता है। आखिर सही रास्ता कौन सा है, दुनियाँ इतनी बढ़ गई है कि कदम कदम पर चौराहे बना बैठी। और पूछने पर कोई यह, कोई वह, रास्ता बतला देता है। क्या इन रास्तों का ज्ञान किसी को भी नहीं है, जो अभी तक धोखा ही धोखा खाता आ रहा हूँ, इस पूछ ताछ में सब समय खो बैठा, फिर भी कदम जहाँ के तहां ही रह गये। यह रास्ता भी टेढ़ा वह रास्ता भी टेढ़ा, युवक बेचैन हो गया, और चौराहे पर खड़ा सोचने लगा— क्या करूं कैसे रास्ता तय करूं।

एक वृद्ध, पतला दुबला शरीर हाथ में छड़ी लिए उधर से गुजरा, और चौराहे पर निराश युवक को देख कर पूछने लगा, भाई इतने निराश क्यों हो? क्या तकलीफ है? क्या दुख है? क्या उलझन है? बतलाओ! युवक डरता था कहीं यह भी इन चारों रास्तों में से कोई एक की तरफ इशारा कर देगा। मगर जब प्रेम के डोरे में उस युवक को पिरो लिया तो अब क्या था, सब कहानी सुनाने लगा। वृद्ध बोला, बेटा मनुष्य वहाँ धोखा खाता है जहाँ उसके सामने बहुत रंग बिखरे पड़े हों वहीं फंस भी जाता है।

कभी लाल रंग की तरफ दिल दौड़ता है, तो कभी हरा, तो कभी पीला, तो कभी नीला। मन का उखड़ाव रंग रंगीली में ही होता है। मन रंग रंगीली में फंस कर एक पकड़ता है तो दूसरा दिखाई देता है पहला छोड़ता है तो दूसरा पकड़ता है। रंग रंगीली में नहीं फंसना चाहिये। सफेद एक ही रंग होता है मन का उखड़ाव होने की गुन्जाइश ही नहीं है। मन एक ही रंग वह भी सफेद पाकर चिपक जाता है सब उलझनें भी समाप्त हो जाती हैं। इस लिये सफेद रंग बेचारा अकेला ही है।

यहाँ से अनेकों मार्ग गए हैं, मगर मुख्य दो मार्ग हैं। यह देखो सामने रंग बिरंगी इमारतें जो दीख रहीं हैं यह माया नगरी को गया है और दूसरा जो सामने चिता जलती दिखाई दे रही है, यह संत नगरी को गया है। यह चिता वाला मार्ग सफेदी है। इस मार्ग पर चलने से कोई फंसाव नहीं है। लूटने का भय फंसने का भय कुछ भी नहीं है। यह जरूर है, यह मार्ग उजाड़ है नीरस है यहाँ सजावट नहीं है। यह दूसरा मार्ग माया नगरी को जो गया है इस मार्ग पर कदम २ पर रंग रंगीली हैं। पग २ पर जाने वाला लूट लिया जाता है। मोहित कर लिया जाता है और सजावट को देखने लग जाता है जो जीवन भर नहीं देखी जा सकती है, अपना आगे का रास्ता तय नहीं कर सकता। वहीं फंस कर रह जाता है।

बेटा तुम इस चिता वाले मार्ग से निकल जाओ! युवक बोला नहीं बाबा मैं एक बार इस मायानगरी को अवश्य ही देखूँगा देखो कितनी सुन्दर है यह सामने दीखने वाली सजावट। वृद्ध

बोला बेटा मायानगरी में जाने से माया तुम्हें छोड़ेगी नहीं, फंसा लेगी, बड़े २ विद्वान तपस्वी योगी जाकर फंस गए, अभी तक वापस नहीं आये। इसलिये सामने जलती चिता वाले मार्ग से चला जा। यह रास्ता निर्जन भयानक जरूर है, मगर सही रास्ता है। कोई भी डर नहीं। शीघ्र ही तुम पहुँच जाओगे। मगर युवक न माना और मायानगरी वाले मार्ग से जाने लगा। वृद्ध ने बहुत समझाया मगर वृद्ध की एक बात भी न मानी। वृद्ध ने आखिर में कह ही दिया अच्छा तुम्हारी इच्छा ही है तो जाओ ईश्वर मदद करेगा।

युवक माया नगरी को जा रहा था रास्ता कितना सुहावना था। लुभावने रंग बिरंगे दृश्य हृदय मोहित कर रहे थे मन खिंचता चला जा रहा था। माया नगरी का पहला द्वार बचपन आया और माया ने उस बालक को फँसाना चाहा। माया को देख कर बालक को वृद्ध के शब्द स्मरण आ रहे थे। गेट में घुसते ही चिल्लाने लगा (बच्चा उत्पन्न रोता हुआ होता है) मगर माया कब उसके रोने को सुनने लगी माया ने अब फँसाना चाहा मां बन गई बाप बन गया चाचा ताऊ भाई बहिन बन गए, माया मोहिनी तो आखिर है ही। बहुत से रंग खेले और लड़के को मोहित कर लिया, बच्चा अब कुछ समझने लगा यह मां हैं, यह पिता है यह चाचा यह बाबा है, अब क्या था सब खबर भूल गया और बाबा चाचा माँ ही रटने लगा। माया ने पक्का रंग चढ़ा दिया, माता अब खूब बालक से प्यार करती है गोदी में लेती है। खूब हँसती है छाती से लगाती है, बालक माँ को देख २ कर खूब खुश होता है, खूब हँसता है। कभी

वृद्ध की याद बालक को न आ जावे पूरा जाल डाल दिया गया। कुछ समय बाद चलते २ माया नगरी का दूसरा गेट (युवावस्था) आया। माया ने देखा युवक के सामने एक वृद्ध हाथ में छड़ी लिये खड़ा है, माया भयभीत हो गई कि कहीं यह बूढ़ा इस बालक को माया से निकाल कर न ले जाये। माया ने फौरन एक सुन्दर युवती का रूप धारण किया और युवक की आँखों के सामने जा-कर खड़ी होगई, युवक बेचैन हुआ बृद्ध की बातें जहर लगने लगी, और उस युवती से मिलने के लिये बेचैन हो गया, वृद्ध बेचारा बुलाता ही रह गया मगर युवक युवती के पीछे चला गया युवक अब अन्धा होगया इसलिए कि माया ने अपनी लड़की काम को भेज दिया था कुछ आगे जाने के बाद युवती बोली. ऐ युवक मैं एक राजा की लड़की हूँ मैं अपना प्रेम तुम्हें देना चाहती हूँ। क्या मेरा प्रेम तुम्हें स्वीकार है ? युवक ने स्वीकार किया और एक सुन्दर महल में रहने लगे। माया ने सोचा अब ऐसा फँसाना चाहिये कि वृद्ध आने पर इसे निकाल न ले जा सके।

युवक को एक दुकान भी करा दी और माया (धन) भी रहने लगी। माया ने अपने दोनों भाई क्रोध अहंकार को भी बुला लिया, दो लड़के लोभ, मोह और लड़की काम को भी बुला लिया। युवक को लड़का भी होगया, अब क्या था क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह, माया ने सब पूरा प्रबन्ध कर दिया। युवक खूब क्रोध, लोभ, मोह, ममता, अहँकार के नशे में डूबा रहता। बड़ा मजे का फँस गया, सब कुछ मैं ही हूं यही समझने लगा। सब साथी भी मजबूत (क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, काम) मिल गये। बेचारा वृद्ध कभी

कभी मौका पाकर आजाता। मगर युवक अब वृद्ध को कैसे पहचानने लगा। धक्के देकर, जाओ जाओ! आया भगवान् का ठेकेदार, चला जा यहाँ से; यही कहने लगा।

युवक अब अहंकार में रहने लगा, क्रोध में रहने लगा, लोभ के वशीभूत होगया, मोह ममता में चिपक गया। दया, धर्म, कर्म, व्योहार सदाचार सब खत्म कर चुका। लोभ के वशीभूत होकर अधर्म, अन्याय करने लग गया। वृद्ध को दया आई, दुकान से युवक को अनबन कराकर निकाल लिया, युवक को वैराग्य आने लगा; स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, माता-पिता से प्रेम हटने लगा। आँखें प्रकाश में आ गईं, माया के दो भाई अहंकार, क्रोध तथा दो लड़के लोभ, मोह, एक लड़की काम, सब माया माँ के पास जाकर रोने लगे कि युवक ने हमें धक्के देकर निकाल दिया। अब माया घबराई और स्मरण आया, हो न हो वृद्ध ने युवक को निकाल लिया।

माया ने अपने लड़के लोभ को दुबारा भेजा, युवक को समझाने लगा। देखो! बगैर धन के मान प्रतिष्ठा नहीं है, माता-पिता की सेवा करना धर्म है, मील में सीर साझे में काम करेंगे, लाख-लाख रुपया कमायेंगे, लाखों लोग इज्जत करेंगे, एक शानदार मकान बना लेंगे, देखने वाले कहेंगे कि अमुक सेठ जो का बड़ा सुन्दर मकान है, तुम्हारे स्त्री, पुत्र, मां-बाप कहीं जंगलों में जाने के बाद रो रोकर मर जावेंगे। मगर युवक पर लोभ का असर न हुआ। अब युवक की हालत (Condition) देखकर माया ने चारों तरफ जाल फैलाया। आखिर गृहस्थ की सब समस्यायें उलझाकर उसमें फँसा ही दिया और माया नगरी का अब तीसरा गेट (Gate) बुढ़ापा आ गया।

लड़के के लड़का (पोता) हो गया, पोते नाती होगये, पोते लड़के के ब्याह शादी की फिक्र में लग गया। धन, अत्याचार पापकर्म करके संग्रह करने लगा। वृद्ध अवस्था आने पर भी डिजाइनदार कमीज; जूते, घड़ी, टोपी, धोती, साल दुसाला लगाने लगा। मालदार हो गया, अकड़ अकड़कर अहंकार में चलने लगा। एक लाल पैसे पर लालच आने लगा। लाल पैसे के लिये अधर्म, अन्याय करने लगा। हाय धन, हाय धन ही दिल में रटने लगा। धन के सिवा अब कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पोते नाती देखकर बड़ा ही खुश होता है, महल-दरवाजे, मील, फैक्ट्री देख देखकर उछल पड़ता है। गरीबों को मक्खी-मच्छर समझने लगा। बेचारे वृद्ध को दया आई अब बाल उसके सफेद हो गये, उसे चिता वाले मार्ग की याद दिलाई। मगर अब तो गजब का आनन्द है, यह आनन्द भला कब २ हाथ लगे, चिता वाली चेतावनी को कौन चाहने लगा। चेतावनी को एक कोने में डाल दिया और लड़का-लड़की, पोता-पोती, सगे सम्बन्धी, धन सम्पत्ति, लाख लाख रुपया देख देखकर खुश होता है। मोटर में सर-सर, पों-पों कर उड़ रहा है, वृद्ध बेचारा सोच रहा था कि युवक बहुत बुरा फँस गया। बहुत मना किया था मगर मुझ वृद्ध की कौन सुनने लगा। अब युवक से कुछ कहता हूँ तो मेरी शक्ल से युवक को घृणा आती है। यह माया नगरी का तीसरा दरवाजा (बुढ़ापा) है, युवक का शरीर जर-जर हो गया गर्दन हिलने लगी। आँखों से दीखना बन्द हो गया। हाथ पैर जवाब दे गए शक्ल कुरूप होगई फिर भी काम क्रोध लोभ मोह में जला जा रहा है। तिजूरी में रखा हुआ लाख

लाख रुपया आंखों के सामने मँड़रा रहा है, प्यारी स्त्री प्यारा पुत्र याद आ रहा है लखपती का स्वप्न देख देख कर अहँकार बढ़ता जा रहा है।

हाल बेहाल है मुख से आवाज नहीं निकल पाती फिर भी परिवार का मोह जला रहा है। मालिक का स्मरण करने को कोई कहता है तो घृणा आती है और याद आती है अमुक बेटा अमुक पोता। मन माया में ही फँस कर तड़फता रहता है अब भी जाने को मन नहीं करता। श्वांस बड़ी कठिनता से निकल रहा है बड़ी तकलीफ पा रहा है। मानों लाखों बिच्छू डंक मार रहे हों। आखिर श्वांस निकल गया।

शरीरान्त के बाद रूह के चारो तरफ जमदूत थे, युवक के कदमों में कांटे थे आँखों के सामने अँधेरा चारो तरफ सूल ही सूल थे, बुरा हाल था वृद्ध आया और युवक के दुश्मन साथी सब भाग गए। वृद्ध ने कहा बेटा! पहले ही तुम से कहा था माया नगरी में मत जाओ, वह तुम्हें छोड़ेगी नहीं देखो तुम्हारा कितना बुरा हाल होगया, युवक वृद्ध के चरणों में पड़ कर रोने लगा गला भर गया और कहने लगा महाराज! दया करो दया करो मेरा कल्याण होना असम्भव है, वृद्ध ने छाती से लगा लिया और प्यार किया तथा वृद्ध ने कहा बेटा चिन्ता न करो यह चिता वाला मार्ग (राज योग) से चले जाओ, संत नगरी मिलेगी यह मायानगरी में होती हुई भी माया का असर नहीं हो पाता। संत नगरी के व्यक्ति माया नगरी में खूब भ्रमण करते हैं फिर भी माया खुद उन से काँपती है

डरती रहती है। संतनगरी के व्यक्ति माया नगरी में फँसे व्यक्तियों को निकालने के ख्याल से ही जाते रहते हैं। तुम चिता वाले मार्ग से चले जाओ वहां के सतसङ्ग से तुम्हारा कल्याण हो जावेगा।

युवक चल पड़ा चिता के नजदीक पहुँचा ही था कि चिता से आवाज आई ऐ युवक! यह मार्ग उजाड़ है, निरस है, बेरंग का है, क्या तुम्हारा मन इस मार्ग में लग सकता है? युवक ने जबाव दिया, लग जावेगा। चिता से आवाज आई तुम्हारे साथ जो काम, क्रोध, लोभ, मोह साथी हैं वह यहाँ चिता में जलाने पड़ेंगे तब तुम आगे जा सकते हो यह इस नगरी में नहीं रह सकते, तुम इस चिता में चित्त लगा लो, तब अन्दर जा सकते हो युवक चिता में बैठ गया और युवक के साथी सब साथ छोड़ने लग गए। युवक ने अपने साथियों का परिचय पूछा तो बतलाया, यह लाल २ आँखों वाला तथा अकड़ में खड़ा हुआ यह दोनों माया के भाई हैं। और यह दो लोभ मोह लड़के हैं। यह काम माया की लड़की है। सब जलकर चिता में स्वाहा हो गऐ।

युवक घूमता घूमता संत नगरी के पहले गेट (दरवाजा) पर आया संत का बड़ा लड़का वैराग्य आया, अब सब कुछ शून्य लगने लगा सामने से स्त्री-पुरुष चले जा रहे हैं अब काम को पहले ही चिता में जला चुका कोई भी मोह नहीं कोई भी मतलब नहीं, कोई चीज में फँसाव नहीं रहा मानों पत्थर चला जा रहा हो, अब छोटा लड़का लड़की प्रेम-भक्ति आई अब युवक निखर गया महान हो गया शक्ति बढ़ती जा रही है न दुख ही सताता, है न सुख ही

सताता है, सन्त का परिवार ध्यान धारण समाधि आई अब चेहरा तेजस्वी हो गया वैराग्य मय जीवन बिताने लगा, हर समय ब्रह्म में लीन रहने लगा, अपना कर्तव्य सुचारु ढंग से खूब करने लगा—सदाचार मय जीवन बन गया। ब्रह्मचर्य से रहने लगा ब्रह्म विद्या प्राप्त करने लगा।

अब सन्त नगरी का चलते चलते दूसरा गेट (दरवाजा) भी आगया विवाह हो गया सन्तान हो गई मगर लिप्सायमान नहीं हुआ मोह ममता चिता में ही जला चुका, काम, क्रोध, लोभ, मोह सब चिता में स्वाहा हो ही चुके थे। ग्रहस्थ धर्म का पालन करने लगा ग्रहस्थ के नियमों का पालन करने लगा परिवार स्त्री पुत्र आदि में मोह ममता लेशमात्र भी नहीं रही। खूब धन सम्पति हुई मगर लोभ ने नहीं सताया धन होने न होने की कामना ही न रही।

अब चलते २ सन्त नगरी का तीसरा गेट भी आ गया, सब से विरक्त हो गया। ब्रह्म में लीन होकर समाधि सदैव के लिए ले ली। मोक्ष हो गया सच्चा सुख सच्चा जीवन पा चुका। सब बन्धनों से मुक्त हुआ अब स्वतन्त्र है माया नगरी में फँसे मानव की याद आई, माया नगरी में जाकर एक ग्रहस्थ में जन्म लिया, माया नगरी में फँसे व्यक्तियों को चेतावनी देकर उनका कल्याण चाहने लगा और फँसे हुए व्यक्तियो को निकालने लगा। यही सच्चा जीवन है, यही सच्चा सुख है यही मनुष्य जीवन है यही परमानन्द है।

माया नगरी में मनुष्य कितनी बुरी तरह फँसा हुआ है, अन्त समय तक नहीं बचता और कुत्तों की मौत हाय-धन हाय-धन हाय पुत्र करता २ चला जाता है। हम माया नगरी में फँसे हुए हैं। हम संतों का आदर करे उनसे सम्बन्ध रखें तो वह अवश्य ही बचा लेंगे, मदद करेंगे, हम लोगों के कल्याण के लिए ही तो आते हैं ना ?

वैराग्य

(कु० पुष्पा रानी सक्सेना)

हमारे ऋषि मुनियों का प्रमाण वाक्य है—'यादृशी भावना यस्य सिद्धर्भवति तादृशी'। अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही उसकी सिद्धि होती है। जैसे कि सात्विक भावना हो तो सात्विकी राजसी हो तो राजसी, तामसी हो तो तामसी आदि। यह सारा शरीर इन भावनाओं की उत्तम प्रयोगशाला है।

प्राणी जन्म के साथ ही एक ध्येय लेकर आता है जो है परम् सुख की प्राति। किन्तु आज का मानव इतना पतित हो गया है कि वह अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को अपने सुखों की पूर्ति एवं सांसारिक भोग विलासों में व्यतीत कर देता है। वह इस ओर दृष्टिपात ही नहीं करता कि हमारा कर्तव्य भगवद् भक्ति में भी है या नहीं ? उसका केवल एक ही उद्देश्य रहता है, खाओ पियो और मौज करो। मनुष्य जितना ही सुख बाहरी वस्तुओं में खोजने में प्रयास करता है उसका जीवन उतना ही अतृप्त, दुखमय एवं चिन्ताग्रस्त होता जाता है। कुछ व्यक्ति भगवद् भक्ति करते भी हैं पर केवल ऊपरी मन से यदि वह सगुणोपासक है तो मूर्ति के ऊपर जल चढ़ाते जायेंगे, ओ३म् नमः शिवाय की ध्वनि करते जायेंगे, परन्तु 'मन' को किसी और ही कलुषित क्षेत्र में विचरण करने को छोड़ देंगे। और जो निराकार उपासक हैं वह जब ध्यान करने बैठेंगे तो मन को एकाग्र करने की अपेक्षा सांसारिक सुखों की पूर्ति के विषय में ही सोचते रहेंगे कि कौन सा कार्य किस प्रकार करें

जिससे लौकिक सुख की प्राप्ति हो सके। पारलौकिक सुख की बात वह सोच ही नहीं पाते। सन्त कबीर दास जी के शब्दों में:—

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआं तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥

इसके विपरीत कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनमें प्रभु के प्राप्त करने की लगन होती है किन्तु वह सांसारिक बन्धनों में इतना जकड़े रहते हैं और सोच ही नहीं पाते कि किस समय प्रभु का ध्यान करें? वस्त्र धारण कर जंगल चले जाते हैं किन्तु उनके जंगल जाने से क्या लाभ जबकि उनका मन स्थिर नहीं है, भावनाओं में पवित्रता नहीं है तथा इच्छाओं से रहित नहीं है। क्या भगवान जंगल का निवासी है अथवा गेरुए कपड़ों में निवास करता है? यदि वास्तव में वह जङ्गल का ही निवासी है अथवा जंगल के अतिरिक्त और कहीं उस सर्व व्यापी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते तो किसी सीमा तक जंगल में जाकर तप करना उचित है। किन्तु जिन व्यक्तियों की भावनाएं कुत्सित एवं मन मलीन होता है उनके हृदय में जंगल में भी विकार उत्पन्न हो सकते है। कबीर दास जी का कथन है:—

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपरा।
आसन मारि मन्दिर माँ बैठे, नामि छांड़ि पूजन लागे पथरा॥

जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया है तथा जो विलासप्रिय हैं वह जंगल में भी ठीक से प्रभु की उपासना नहीं कर सकते, सांसारिक वासनाएं वहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़

सकती, मन के अन्दर दबी हुई इच्छाएं उनको वहाँ भी चैन नहीं लेने देतीं और वहाँ भी वह अपने लौकिक सुखों की पूर्ति के विषय में ही सोचा करते हैं। अतएव वह अपना सारा जीवन यूँ ही वासनाओं के वशीभूत होकर व्यतीत कर देते हैं। इस तरह से न वह अपना लौकिक जीवन ही सुधार पाते हैं और न पारलौकिक। ऐसे मनुष्य केवल कल्पनाओं और इच्छाओं के ही दास बने रहते हैं। किसी ने कहा है:—

न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा॥
बड़े मूजी को मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा।
निहंगों अजदहा और शेरे नर मारा तो क्या मारा॥

अर्थात् सच्ची वीरता तो है अपनी वासनाओं और कामनाओं को जड़ से मिटा डालने में अपने अहम् को खतम कर देने में। पारे को भस्म बना देने में, बदमाश का बध कर डालने में, शेर, सर्प या घड़ियाल को मार डालने में कोई बहादुरी नहीं है।

ज्ञानीपुरुष गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपना परमार्थ सफल कर लेते हैं। जिस प्रकार से कमल जल में निवास करता हुआ भी उससे अछूता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार में रहते हुए भी उससे लिप्त नहीं होते। वह जहाँ कहीं भी निवास करते हैं उनके लिए वही स्थान जंगलमय हो जाता है क्योंकि उन्हें हर प्राणी हर वस्तु में भगवान ही दृष्टिगोचर होते हैं:—

सब घट मोरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
जा घट की बलिहारियाँ, जा घट परगट होय॥

ऐसे ज्ञानी मनुष्यों का मन कभी चञ्चलता नहीं धारण करता वह कभी भी किसी अच्छी या बुरी वस्तु को देखकर उद्विग्न नहीं होते। जिस मानव में यह वस्तु त्याज्य है, यह वस्तु ग्रहणीय है आदि भावनाएं नष्ट हो गई हैं जिसने मोह माया के सारे बन्धन उतार कर फेंक दिए हैं तथा संसार में रहते हुए भी सांसारिक विलासों की ओर दृष्टिपात नहीं करता वही महापुरुष वास्तव में वैरागी कहलाने योग्य है। श्री दादू जी के कथनानुसारः—

आया भेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार॥

ऐसे पुरुषों को ज्ञात है कि यह शरीर पञ्चतत्वों से निर्मित है जिसका क्षय अवश्यंभावी है, केवल एक आत्मा ही अमर है जो कि शरीर के काल के ग्रास बनते ही अनन्त में विलीन हो जायेगी इसीलिये वे इस क्षणिक सुखोपभोग की ओर ध्यान न देकर उस सर्वान्तर्यामी प्रभु की ही उपासना करते हैं। वे न तो किसी प्रकार के दुख से दुखी होते हैं और न सुखों के प्राप्त होने से हर्षित ही। वे प्रत्येक दशा में सम रहते हैं। प्रत्येक वस्तु, प्राणी में उसी अपने प्रभु के दर्शन करते हैं। फिर तो उनकी यह दशा हो जाती है कि-

निगह अपनी हकीकत आशना मालूम होती है।
नजर जिस शय पे पड़ती है, खुदा मालूम होती है॥

———

नोटः— शेष अगले अङ्क में पढ़िये!

God and Gods.

(*Shri Ram Chandra ji, President*)

I am glad to find you moving towards Self-realisation which no gods can bestow. 'We die and become gods while devas die and they take our form.' It means that they are also not away from the sphere of birth and death. In this respect our worship of them can never lead us beyond the circle of rebirths. If you beg for alms from a poor man, what can he give to you except nothing. If I put it in high sounding words on the basis of my own experience, I would be bold enough to say that gods are in fact at our service and not we at theirs. With due regard to this fact you can yourself decide how far can gods be helpful to us in realisation when they themselves are always craving for it. Therefore you, being a thirsty man as you say must adopt means for quenching your thirst. Had the worship of so many gods been sufficient, you would never have craved for realisation.

God is one and only one, so we must take only the one to realise the One alone. The idea of Trinity will definitely lead you to births and rebirths. It was the time, no doubt, for you to

have been with the rememberence of Shri Rama or Shri Lakshmana or Shri Anjaneya because you had not the proper path in sight and thus you may be thankful to them for helping you to come up to the right path, leading direct to Realisation. They have done their work already and now it is upto you to find out and follow, further on.

I also believe in the theory of Avataras. Shri Ram Chandra Ji is one of them. He could, no doubt be of help during his regime. But with the advent of Lord Krishna, the regime of Shri Rama is over. It is now the regime of Lord Krishna that continues because no body has yet come after him as Avtara. So in this respect we are all connected with him now. This is the phenomenon of nature which I have brought to light for your understanding.

In my case I may say that gods as they are, were even when I had gone to the holy feet of my Divine Master, but they had never helped me at all before that. It was my master alone who came up to my help at the time to ensure complete success. Whom should I now be grateful to — to the gods or to my Master ? In fact gods are like the different functionaries of Nature

set to work out Her will like the different parts of a machine.

When you feel convinced that Shri Rama has directed you to follow this path, the mystery is solved. Now I want to know whether you like to be lost in yourself or to retain in you the memory of Shri Rama. If you attempt successfully for the latter, your problem remains unsolved as ever and liberation shall be a far off thing for you. The Avataras have always encouraged people to worship God and if you adhere to it you are following them in the right sense. Reading of Stotras in praise of God is not harmful. It promotes the feelings of Bhakti and may thus be beneficial to you to some extent. But it would be better if during leisure hours you rest your thoughts on 'All-pervasiveness of God and remain in that mood so long as you may have time for. This may be a happy pastime as well as continued rememberence. But you must never attempt for the imaginary visualisation of it lest it becomes wholly artificial. This is for every body to follow.

You say that the learned teachers of religion induce you to worship Devatas. My reply to it is already there. No practical man shall

ever suggest it to others. The learned has only read the books while the practical man has tasted the spirit of books. There is thus a vast difference between the two. He alone who has travelled succefully on the path can guide you along safely. These learned teachers of religion are more like the sign-posts by the road-side to indicate the direction of the road leading to various places. That is all the purpose they can possiblly serve. The Saguna worship will difinitely bring you round to the Saguna roopam. You aim at freedcm from materiality and it is but strange that for it they advise you quite the otherwise course. Devatas can never lead you up to sublimation which they themselves are lacking in. You want to end even your subtle existance, which in other words may mean spiritual death.

Some say that if you take up the path of Yoga, you may be faced with afflictions and calamities. This is the view of the ignorant and the weak-minded persons alone, which must never be accepted on practical grounds. Besides, as for my self I would say that if even the whole life is to be sacrifice for the sake, it is not much because thereby we shall be saved from hundreds of rebirths, entailed with all miseries and sorrows. So please do what is right, using your own discrimination or rely upon the experiences of practical men. ——

Mind And Meditation

(Shri Iswar Sahai)

MEDITATION] Since proper regulation of mind is an essential feature of the pursuit it is but necessrry to adhere to it from the very start. The only effective process for that would be meditation which deals directly with the fuctioning of the mind. The non-stop wanderings and all the multifarious activities of mind can be overcome, not by methods of control or restraints but only by gradual change in its general trend. The mind which on account of its close association with body-conciousness has fallen on evil ways, thinking all the while of its sensual cravings, is to be diverted towards higher and nobler ideals. This is what we do in meditation. In meditation we try to attach ourselves with one subject for some time atleast. That means that for that period atleast we are to some extent relieved of its obnoxous trend. When the practice matures and mind becomes accustomed to it, a state of peace and calmness begins to devlop within. This is the elementary result achieved by the practice of meditation.

CONCENTRATION] The general view that concentration is the initial step for meditation, is a grossly mistaken notion. Most of the people are induced to believe for that practising meditation it is necessary to start practising concentration first. This fallacy has perhaps arisen out of the wrong interpretation of the term 'Dharana' which according to the routine of

Ashtanga Yoga precedes 'Dhyan' or meditation. But 'Dharana' simply means attentiveness and not concentration as commonly understood. If we examine this question in the light of our daily routine, we find that when we think over some of our worldly problems, we naturally pass through the three steps implied in Dharana Dhyan and Samadhi. In all cases we first fix our attention on the thing and then begin to think over it in a continued way. Sometimes when our thinking become very deep we feel lost in it, which may rightly be presumed to be a state of concentration Thus it would be wrong to presume that concentration is the preliminary step for meditation. Besides if we first try to concentrate we must necessarily resort to physical force for suppressing the activities of mind inorder to create a state of suspension, which is definitely a wrong course and away from our real purpose. The suspension of mind brought about by forced physical means may however result in a temporary state of coma which is wrongly presumed to be a spiritual state. It may be more like a state of senslessness brought about by the effect of chloraform or some other drug.

MEDITATION-OBJECT] The next important point in this connection is the fixing up of an object for meditation. Some of the teachers have classified meditation in two ways, the concrete and the abstract. The concrete meditation is that in which some material object in solid form is kept in view and meditated upon. Numerous objects are advised for the purpose. In most cases it is the image or a picture of some god

which is commonly considered to be the best. Others advise objects like a flame, a mountain peak, a river or even a flower to meditate upon. The significance of such objects as having no relation with the Divine thought is not understandable at all, unless thereby they mean only to practise concentration for developing certain hypnotic powers for the sake of their material gain. Meditation on image also serves the same purpose. Besides when some solid object in physical form is taken up for meditation, the characteristic feature of the object, i. e. solidity or grossness is also sure to shed its effect upon the mind with the result that grossness instead of reducing will go on increasing. But a supporter of the above view will stand up to defend himself saying that it is not realy the image that is meditated upon but the reality at the root of it. But that may only be for the sake of vain argumentation. In fact perhaps not one among thousands does ever take it in the way. Realey they meditate upon the very image in its solid form ignoring the Reality at the root, and that is but natural, for when the solid object is taken into view, the Reality at the root is automatically lost sight of, and they remain practising only concentration in an imposed way. Thus they naturally keep on contracting greater and greater of grossness. It is therefore evident that meditation on solid form causes adverse effect which hampers our march towards subtleness. In this respect the so called concrete meditation is by no means helpful to our ultimate purpose, hence not of any avail in spirituality.

(to be continued)

As I See It

(Shri Raghavendra Rao)

The annual fnnction the Mission— (The Basant Panchmi Day), what an auspicious occasion ! If one is able to see with his heart's eye he can never fail to realise it. The Supreme silence amidst this great gathering is a thing for which saints have struggled for years. The atmosphere charged with the subtlest vibrations of the purest hearts reminds one of his real Home towards which his heart is ever-directed knowingly or unknowingly. Why is it so ?

Here the massage is conveyed from heart to heart. The glamour of high sounding and ornamental language and the charm of musical words may be enticing to people but Reality cannot be conveyed through them. Golden thrones studed with emaralds and rubies may attract men towards the gurus sitting on them but God will be left dethroned from the hearts. Miracles and acrobatic feats may cater to the curioslty of crowds but the real craving of a seeking heart will ever remain unfulfilled by them.

Shri Ram Chandra Mission is a unique organisation. There is no other organisation like this in the world today. If one wants to realise the reality of spirituality he has only to come and see it himself. No bondages are imposed here as conditions to become a member, as is done in other organisations. In fact when one enters into this academy, he is freed from all bondages. Some, however mistaking this utter leniency to be a licence, try to take liberties by forgetting the human entiquettes. Of course such persons will drop off soon. It is well said that God is not available to the wicked and cowards. The fundamental principle of Sri Ram Chandra Mission is God and God alone and nothing else. So long as this Divine principle is the basis of any organisation it lives and the moment any other thing becomes more important than this Divine principle such organisation dies out. The only condition required of a member of our Mission is to attach himself firmly with God.

It appears as if laziness has become one of our national characteristics. And we think that Sahaj Marga, thanks to Master, is best suited to us. Sometimes I cannot help feeling annoyed at its extreme simplicity. In fact it is made so simple and easy that if we are not alert

and vigilant, we are likely to miss it. I do not want to join with the professional gurus in proclaiming that Brahma-Viddya is as difficult as the chewing of steel balls. To proclaim like that, will amount to betryal of one's own egotism and pride. It can never be difficult when we have got the Samartha Guru among us. But at the same time, we should not forget our duty. When we claim that we love the Master so much, will it befit us to make him do our part of the work also ?

It has been said earlier that there is no place here for cowards and wicked fellows. Cowardice is the result of fear and hatred and wickedness is due to selfishness and idleness. We being the torch bearers of the message of the Great Master must purify our hearts completely. We must free ourselves from every kind of fear, hatred, selfishness and idleness. Fear is born due to lack of love of God. Selfishness is developed due to detachment from God who is the real Self. And idleness is the result of lack of search for God. And the only way to get rid of all the above afflictions is to surrender everything to Master with faith, love, attachment and longing.

(To be continued)

SAHAJ MARGA
A Scientific Religion.

(Shri S. C. Srivastava)

Religion is a very poor translation of 'Dharma'. Dharma is comprehensive understanding of life and its problems — both spiritual and temporal. It takes time, much more to grow than 'religion'. Religion is the formulation of those principles on which the society marches on. But in west being pressed on all sides by the rocks of materialistic development the sprout of religion could have a very stunted growth. In East and chiefly in the mild climate and fertile soil of India, it grew to its full to be called Dharma. Since the English came in close contact with our country, the cannotation of the term 'religion' has widened to reflect the full implication of 'Dharma'. And it is in the wide suggestion of the term that I have used the word 'religion'.

Religion in the West went hand in hand with theology and organised Church. As theology proved to be a pseudo-logical approach to oppose the scientific ideas, Church assumed the

role of the executioner. Theology became the judge and the Church, its follower became the hangman. Thus the holy surplice was smeared with the blood of people and earned the apathey of people. It became almost synonym of orthodoxy, blind faith and fanaticism Naturally the balance of popular opinion swung to the new ideas called as science. After the world wars people realised that the God they had been worshipping out of Church was also not an unmixed good. Now they are in a fix. Religion, as they remember, is 'red in tooth and claw' and science, at the altar of which they burnt their fingers twice, is again threatening them with total annihilation. Religion gives peace but blinds the eyes, science gives eyes but takes away peace.

And it is this confusion which is filling the minds of the educated people of our country today. They view religion with the distrust of the westerners. It is not without reason. Since the advent of crescent in our country, the altars of religion have been places of mass carnage. The most unhappy division of motherland on the basis of religion has tarnished even the last brightness of it. Religion has given us such a bad taste that no sophisticated person of today thinks it worthwhile to talk about it. It is branded as a mark of being a reactionary and backward Science, on the other hand, has opened our eyes to new visions of power and progress. We have not undergone the sad experiences of Science as yet, but the horror of science is looming so large on the horizon of human existence that we cannot even think of burning our fingers for the sake of experience only. But we have not escaped the impacts of this scientific enquiry. We want to have the spirit of science, we want to have the peace of religion.

Religions prevailing not only in India but throughout the world are falling short of this standard. They are shy to face the scientific enquiry. They cannot step out of their dogmas for they feel that they cannot breath out of their shells. Old theologies are withering away because their roots do not find nourishment in the soil of scientific enquiry as they used to find in the soil of superstition. And those people who claim to be bold in the spirit of religion go on babbling in their old out-dated jargon and consequently, fail to attract people of understanding. Religion today is, however, living on the fear of the ignorant masses. It is now a policeman and not the prophet.

Religion, never the less, is a necessity of life. Mankind cannot live without it. Man must have peace or perish. To expect peace from science is crying for the moon. A religion will have to be evoloved — a religion that may satisfy the enquiry of science and give the peace of religion. Science and religion must join hands for the existence of mankind on this earth. It seems impossible. World is standing on the mouth of a valcano. Any moment can toll the knell of life. But there is no need of despair. Sahaj Marga has brought about the happy marriage of science and religion.

The scientific approach to the mysteries of existence was afforded by the doctrine of evolution. The theory of struggle for existence and survival of the fittest along with adaptation to surroundings, removed the idea of 'purpose' from the universal order neither in the continuation of the universe nor in that of human life. And as a result of it the picture of life turned black Struggle for existence and survival of the fittest snatched away the few moments of rest, consolation and trust. In the unceasing relentless cycle of universal order there is no room for sympathy or hope. Conscience was a

forgotten term And in the absence of any inner omnipresent guide there was every scope for the destructive tendencies to have an upper hand. They tried to apply check on man from without and not from within. But today certain scientists have marched ahead to prove that only Darwinism is not enough. But the 'absence of purpose' continues to be the watchward of scientific enquiry.

Thus the absence of purpose is two fold in its application — from the universal order and from human life. Sahaj Marga accepts first but rejects the second. It believes that given a start this universe is controlled by its own laws. Sahaj Marga, true to its nature of spiritual science, accounts for the growth of the universe before it comes to physical appearance. Thus it presents the convincing picture of spiritual world as Darwin presented a coherent explanation of the descent of man or the origin of species. It is, therefore, a more minute and detailed study of all the activities and stages of the sprout before coming out of the shell of the seed. What is the source of energy in the seed ? How great must be that energy which shoots forth trunk, brances, leaves, flowers, fruits and innumerable seeds of

the same vitality ? Where is the centre of all this ? Can there be any definite shape of this central force ? It is only in negative — the final most, a negative is Zero.

God has been a confusing phenomenon. From philosophical arguments about the nature of God, people have often come to blows. And even after all the argumentations, it has failed to represent the origin of universal order. 'Zero' as the negative ultimate centre of all is the most convincing one. From it starts the universe which like waves raised by throwing of a stone in water, travels outward and after reaching the farthest end returns in an exhausted way to its centre. This display of energy may be explained better through the example of the growth of a seed into tree and again turning to be the state of an original seed. Thus, according to Sahaj Marga, the universal order moves in a circular motion. The study of universe as presented by the evolutionists is fragmentary in the sense that they analyse only a brief span of life. The Sahaj Marga presents a complete picture of the cycle of creation.

Sahaj Marga gives a very scientific explanation to the psychic forces governing the universal order. Its use of the names of mythological personages holding charge of the smooth running of the system of cosmos is an attempt to acquaint the traditional Hinddoo mind with the new spiritual science. It is truing to bring into vogue the word 'Nature' instead of the much misused terms like 'God' or Destiny' — the marks of superstition.

Absence of purpose in human life is now a dead slogan. Earlier people ignored the spirit in man and treated him as a plant or an animal. That man has a conscience and feelings is now widely accepted and the off-quoted dictum of literary criticism, 'Character is Destiny', is applied to the sphere of individual life as well. Hence in order to reform the way of life which has been badly disorganised on account of the two world wars, thinkers have come to realise the importance of the inner being in man. And this emphasis on human heart has again given a rise to the questions of emotions of hope and fears.

While recognising that human life has its own rules, Sahaj Marga attaches equal importance to the emotional aspects. It accepts that human life is strictly bound by the chain of cause and action. Everything done has its effects. This is known as the law of Karma. But the law of Karma differs from the scientific theory of move-

ment i. e. given a start a thing will continue moving ad-infinitum. According to Sahaj Marga the actions of a being go on gathering some effects called 'Sanskara' which in due course of time, cause further actions to entail fresh effects. But while in the law of physics there is no exeption, no cessation from first cause to endless chain of cause and effect — in the law of Karma there is a scope for human endeavour to free oneself from it. Something so five as soul, gathers more and more sanskaras and consequently becomes quite gross and far from the original condition of subtlety and bliss. Now, the original state — zero — has been imagined as the most subtle. The soul has also to be subtle in order to be nearest to original state. The law of Karma is the spiritual mechanical law of human life and universe for its existence and sustenance. But those who aspire for 'reality' have to some-how step aside. They have to break this chain and after undergoing the last effects of actions, the soul would be free to attain the original condition.

It is very natural to ask why we should try to step aside the course of Nature. The answer is very significant in the sense that it is here that the chief contribution of Sahaj Marga to mordern world lay. The philosophy of Sahaj Marga denies any purpose in the creation of universe. It is as automatic and mysterious as the reason for the sprout to burst open But it is beyond doubt that creation means turning of abstract energy into gross material form. This grossness grows increasing till there comes a time when bitterness and strife make life unbearable. Hence it accepts a purpose in human life. Nature has endowed man with qualities of discrimination and initiative and therefore he has to view the whole picture and endeavour towards light from darkness, towards absolute truth from fragmentary truth and towards unbroken stream of life from pieces of existence.

Thus Sahaj Marga has focussed its attention to that germinal factor which grows into outer life. It is the control of that state from which we plan to achieve subtleness. There is a very scientific method of thought and psychic powers and it has been best termed as Transmission. Briefly speaking, it is the imparting of spiritual vitality to the seeker.

Bertradd Russell, once writing upon religion and science expressed his desire that world today needs a religion that may face the challenge of science and at the same time, shower the drops of faith and hope to the war-afflicted mankind. His wish is fulfilled. Sahaj Marga is the saviour of tomorrow, Present world may appear enveloped in darkness but the dawn is soon to break.

"If winter comes can spring be far behind ?"

—

Abhyasi's Experience

My aim in putting forth all about my life at your Lotus-feet, is to enquire and know from you the real answers and solutions for the odd problems of our life. I have many weaknesses in me. Similarly there might be many kinds of Sanskaras also. I want to be a follower of Sahaj-Marga in its real sense, and one of the real Sishya of Mahatma Bhagwan Shri Ramchandra ji. Therefore I think it to be my duty to rememper you (My Master) constantly thinking that your abode is in my Heart and your presence is always there. The feeling that you are in my heart, I am sure, is sufficient to take me up, cross the various stages and reach the highest state. My theory is that when I (or any Abhyasi) think firmly that you are in my heart aud crave for you, you are certainly there in me, and naturally take me to any length without any deffi-culty. I think this is the simplest method for one to be a real follower of Sahaj-Marga. In a simple way I desire to put the whole system of Sahaj-Marga by saying 'You think of the master, and he will do the rest.' Am I correct ?

In this connection I remember your recent ad-vise from your letter which says that one should not try to see the Master everywhere purposely, but the feeling should come of its own accord lest it may become artificial. I have assimilated this. In the con-text of this I examined my above theory and have come to the conclusion by my own experience that when you begin to think that che Master is in your

heart, realy he is there and you are illumined by his Grace and instantly you get answers for all the pro-blems of your life. Thanks to my Master residing in me. He has given me satisfaction, and is also giving me courage to face the circumstances. Evidently I have found out the reasons for a man's grief. My experience teaches that one should not have anything of his own in him. When he steps in the Sahaj-Marg, he should firstly try to become like a man having nothing in his mind or at his Heart. He should be-come a fool. I mean to say that he should take a Re-birth and become a childlike innocent person and should clear-off his foolish and naughty screen of wisdom and knowledge which separates him from the almighty Guru. This perhaps seems to be a difficult job, But I say it is the easiest method, and myself have been doing it. What one should do is simply to tell every good and bad, little and big, worthy and unworthy, happenings of ones own life to Gurudeo, seek advise, and act upon it just like a child. The more Childlike sincerity creeps in you, the more you understand the Guru's gracious ways of leading you to higher stages. This is how I aspire to have that Guru-Kirpa. Gurudeo ! Am I right ?

Therefore I beg you to make me a childlike person having nothing either in my mind or at my heart, so that there should be only, You in the heart, in the mind, in the lungs, and every where. Gurudeo, I pray you to bestow upon me Divine Grace and speedily make me capable to be called as one of your most beloved true Sishya, so that I may act as your

trusted messenger. Gurudeo, during the shortest period of my Abhyasa, you have given me the widest knowledge about you, and so I trust that I can do any thing and everything to bring a real change in the human lives, only if your Divine Grace is there behind me always. I think, Sahaj-Marga with its Ten Commandments is the quintessence of all the religions and the only workable scientific way of spiritual life, which men of any walk of life and society can easily follow. In the present world of social religious, economical and political complexities, Sahaj-Marga is the only way which can bring real peace in the world. No Summit conference of the power-hungry political leaders can do good to the world. It is beyond their powers. The correct method is here, and the source of it is at Shahjahanpur. My Master Gurudeo, you are giving me everything that I need. I acknowledge your grace and bend my head and prostrate on your Lotus feet and pray you to keep me always near you.

Gurudeo, I am working as a clerk in the Revenue Depot. I have a little income. I have to look after my family, consisting of myself, my father, wife, son, and my mother-in-law. I do not want any thing else than what you have now given me in life. I am satisfied with the income, I am satisfied with the expenditure. I am satisfied in all respects. I have been so when ? Since the time when the Grace commenced flowing on to me from you. I was the same person prior to this when everything was appearing to be gloomy, because I was immersed in the worldly complexities and so was wrongly feeling that I was not

having the one (happiness) which rest of the men possess. Really speaking the sense of my happiness was though not strictly confined to mere worldly luxuries, but definitely something more or less likewise. Gurudeo, you picked me up at the right time. I pray you to do so always.

After reviewing my own life, I also look towards my other colleagues in Government service who also earn a little more or less than me, and think that perhaps they cut their days in great distress. There are others who perhaps are in more dangerous position because either they have been a pray to so many unwanted evil habits, and earn very little. I feel something uneasy for them. I do not know how many such ill-fated persons are there on the face of the earth. Gurudev, primarily whose responsibility is it to awake these sleeping or say Dead persons ? Not yours. Am I correct ?

Bhagwan Gurudev, why do not you extend and speed up your work of cleaning the dirt from the World ? We as your sishyas, are your limbs in real sense. Therefore why do not make us able speedily and put us right on the way to serve your cause ?

Gurudev ! I pledge to do your job. Give me strength. Give me all that is needed to be your trusted Shishya.

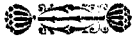

Talks on Efficacy of Rajayoga

(Dr. K. C. Varadachari)

The school of Rajayoga is said to have been founded Hiranyagarbha (Brahma) and the chief tenets of that school were written down by the sage Patanjali. Sage Patanjali is indentified with the great grammarian Patanjali by somes cholars. However it is clear that Rajayoga as enunciated by the Yoga Sutras is one of the earliest systematic attempts to present the method of release.

Shri Ram Chandra Ji states that the technique invented by his Master was originally the earliest having been invented by a Rishi who lived far earlier than Śri Dasratha, the father of Shri Ram Chandra, the Avatar. This method depends on the same principle later enunciated by Patanjali but with a great modification. The principle is that all this world, both individual and cosmic, arose out of the original stir or kshobha and this is of the nature of thought. Ii is this subtlest thought that as power has become gross and grosser till it evolved into the cosmic world (Brahmanda or mind-region) and the heart-world (pinda) which later are the individuated world of being. Thought thus became the gross world of matter. Of course this process of descending of thought has been attended by a series of twists and inversions of the original flow or strand of the flow. Thus we have the descriptions of the higher and lower constantly being changed or inverted. These inversions lead to many changes and knots at each one of the stages of the descent. All these are not mentioned in the Patanjali Yoga nor in Samkhya. Patanjali says in his definition of Yoga just that it is nirodh or arresting or stopping modifications of the Citta (Citta-vrtti)

The nature of Citta is not clearly mentioned, for Citta is not a category of the Samkhya enumeration. Therefore the writers on Yoga think that it is to be equated with speak the manas the sessorium of samkhya. Really Citta should refer to all the thought processes starting from buddhi, ahamkara, manas and sense-organs etc ... for all have to be reversed or led to nivrtti. It is then that they really are made to become one with the original thought. Thus the force of thought is to be used to stop the flow of thought downward to grossness.

It is undoubtedly a serious question whether the thought as Citta is used for the purpose of restraining itself. That is not the case

and what happens is that another force has to restrain it from going on in its downward movement. It is this force that is said to be indeed of the same nature as that of Citta but in its refined form or supper-fine form which is to be used for the purpose of restraining Citta.

Shri Ram Chandra Ji has shown that the original thought with which the later formations of it including obviously the Citta are identical in a sense but which have to be shown to be inversions of it is to be used for controlling them. This power of supper-fine thought can not be had unless one begins to contemplate or meditate on the Supper fine. Thought itself or one who is in full possession of it without any dimunition, namely God Himself or a great Master who has arrived at that condition.

Thought as understood by philosphers is just reason and reasoning. Such a reason is dependent for its very existence on sensation and experiences which are sensory. The reason can not be correct unless it is also guided by the laws of reason. That is the reason why philosophers can be arriving at wrong conclusion or erroneous judgements. There are any number of philosophies nowadays which are based on a

set of axioms or assumptions even like mathematical schools dependent on a set of axioms. There are thus any number of mathematically constructed universes, none of which need be true. So too these several philesophies can be produced or invented and none of them need be true. Therefore we have any number of philosophies and conflicts arise only when any one of them or all of them claim to be true to experience or reality. Reality is the reference which they claim to satisfy but which is hardly arrived at so long as their basic assumptions either of thought (called law of thought) or sense (claimed to be facts) are arbitrarily chosen.

The procedures of philosophers based on the so called genetic approach or empiricism are bound to be vitiated at the very outset because they attempt to know reality as a whole through the knowledge of the parts. Inductive procedure based on leaping to the general or universal or whole knowledge from the knowledge of the parts of course has its basic hazards. The leap is sometimes impossible, sometimes nonsensical and sometimes irresponsible. Thought is the kingly thing in us and since we use thought for the purpose, the yoga is called the Rajayoga. However if it is the usual intellectual discursive

thought, thought that is the servant of sensations, then it is not doing its kingly function. The real thought is akin to vision that is of the Ultimate Reality and it is this thought which has to be trained to come back to us by the purification of the thought that we now exercise. The twists and turns or inversions (vivarta) that thought has gone through in its becoming (pravritti) have to be unwinded or untwisted or re-inverted so as to become the original thought. Therefore the true purpose of philosophy is to restore the original power of thought and then use it to know reality, rather than try to know reality with the help of these twisted and distorted instruments. Ancient Indian thinkers have laid down three conditions for arriving at truth or reality : i) the subject must be healthy and not obessed by desires (ii) the subject must be without ambiguous or similar nature to other subjects so as to give rise to illusions and (iii) the means of knowing or thought or pramana must be without any defect. The errors of deficiencies of the subject lead to hallucinations and errors of prejudice and desire, the second dificiencies lead to illusions and the third also to error. Thus reality which is of the highest can not be apprehended by means of senses or reasoning or

comparisons or analogies because it is subtler than any of the objects of the senses and knowledge of that will throw light on these sensations rather than otherwise. Thus Rajayoga aims at arriving at the Highest Thought or purest thought to apprehend reality as it is having cleaned the subject of all desires and means of all imperfection.

Shri Ram Chandra Ji therefore counsels that any one interested in knowledge of Reality, should arrive at this state of vision or intuitive knowing and should not try to know reality of a kind by means of his senses and reasoning which can only give distortions of reality or unreality in one word.

Sahaj Marga is claimed to be the natural method of attaining the Highest Vision and experience of Reality. There are therefore recognized other ways which are artificial and therefore requiring great labour and effort which do not lead to the highest.

Since thought in its subtlest form is the origin of all process and building up of the gross phyaical, vital and mental bodies so to speak thought even in its gross form is utilised to break up these structures. The simple method is the

method of concentration which is the linking up of our thought (gross form) with its subtlest form (that of Reality). This subtlest form is that of the Master and that is why the Master becomes the object of concentration. Indeed all religions counsel the concentration of meditation on the Godhead who is claimed to be the Adi-Guru, the original Guru. Concentration on that Guru leads to the loss of grossness of the thought which is ours and slowly there is the transformation of that thought into subtle conditions. The thought with us moves slowly to the Ultimate. The movement of thought achieves a double purpose firstly purifying itself by contact with the Ultimate and secondly leading it to that ultimate condition or state.

Thus vairagya or renunciation of thought in its lower forms and movements takes place naturally, as the thought which is ours slowly moves upwards or takes its yatra or pilgrimage to the Ultimate. So too the thought becomes subtler and subtler, and thus reveals true nature. Thus we attain renunciation without effort by fixing the ultimate as the goal. This individual mind then begins to perceive that it has become individual and gross when it began to get away from the centre of Peace.

More important of course is the point that the soul begins to get the Ultimate'a peace; and calmness and simplicity begin to descend even as the individual is moving towards it or has surrendered to its contemplation. For it is a truth that one becomes what one contemplates. Thus meditation on the Ultimate is the first condition of ascent. As the Master states, "the gentle waves of the Calm of the Region of Almighty begins to flow direct to the individual mind and so in the long run you become one with it." (Efficacy of Rajyoga). The meditation on the Ultimate having been decided and the Ultimate having been recognized as the Guru or God it follows as to where and what the Ultimate has to be meditated upon.

Sri Ramchandraji has clearly stated briefly that there are certain minimum assumptions : firstly there is the Ultimate, secondly that this Ultimate (which is also called Zero or Nothingness is called Tam or That (tat). It is not the tamas quality that comes up later on as the element of inertia or inactivity in its gross form, which is perhapa an inversion of that. The tam has beneath it a kind of invisible motion. This is the First Mind or supermind of the Almighty. From this supermind our own mind originates. When we take up our individual mind to this level of the First Mind then we become close to the centre or the Almighty.

This First Mind being arrived at one becomes very close to the Centre and gains the experiences of plainness, simplicity and calmness. Such a mind beyond the First Mind is something that one arrives at by Jumping above it. The difficulty of worshipping this

Ultimate is there. The need to have a concrete object rather than an immaterial Absolute is everywhere felt by meditators. Indeed it is difficult to meditate on that. Therefore Sri Ram Chandra ji prescribes that one may meditate on the personality who has reached this Ultimate condition and who is capable of leading you to that state. It can be an Avatar as Sri Krishna has reached this Ultimate condititon and who is capable of leading you to that state. It can be an Avtar as Shri Krishana has stated about himself or a special personality who has attained that state of the eentre. Our Samartha Gurudev is said to be one who has that state and therefore fit to be meditated upon. Further our mind being individual and gross needs one who is incarnate whilst yet being in the Ultimate for concrete meditation.

I shall however point out that the manner of the experience of the Ultimate or Guru is not had always in the external form but rather in an internal subtle manner. This requires some explanation. We see a solid with our eyes. It has a form; but when it is melted it loses form (solid) but gains a liquid form and so on. Thus internal perception or vision of the external form gives rise to a new form experience. Thus God is experienced as a light in the heart (jyoti) and it is relatively formless. So also we experience a void and this is the experience of the Ultimate. (and every experience goes away). Many abhyasis have found it difficult to keep the Outer form of their Ishtadaivatam before their meditation, whether it be the Master also.

(Continuced)